विश्वधर्म के

मङ्गलपाठ

विद्यानन्द मुनि

श्री फतेहचन्द मूलचन्द पाटनी पारमार्थिक ट्रस्ट
इन्दौर

प्राप्ति स्थान
श्री मुनि विद्यानन्दजी चातुर्मास समारोह समिति
४८, सीतलामाता बाजार
इन्दौर

प्रथम आवृत्ति २५००

मूल्य · १ रुपया

मुद्रक
नई दुनिया प्रेस,
इन्दौर

अनुक्रमणिका

मंगल-स्तवन

(कन्नड़)

परम परज्योति कोटिचन्द्रादित्यकिरणसुज्ञान–प्रकाश ।
सुररमुकुटमणिरजितचरणाब्ज शरणागु प्रथमजिनेश ।।१।।
सिद्धर सततविशुद्धरबोध समृद्धर नेनेदु नानीग ।
सिद्धरसदोलु लोहवनद्दि दंतात्म सिद्धिय पडेवे निन्नेनु ।।२।।
व्यवहार-निश्चयवरिदु तम्मात्मतत्त्ववनन्नेमि निजव साधिसुवा ।
नवकोटि मुनिगलु भूवरिल्लेनलुं टवरिगलिगेर गुवेनु ।।३।।
परब्रह्मत्रिभुवनसार चिदवर पुरुष निरंजन सिद्धा ।
दुरित जय हसनाथ नमो नमो गुरुवे प्रत्यक्षवागेनगे ।।४।।
बिन्नह गुरुवे ध्यानके बेसरा दाग निन्नादिय माणिकोडु ।
कन्नडदोलगोदुं कथेय पेलुवेनदु निन्नाज्ञे कडुनन्नोडेया ।।५।।

—रत्नाकर कवि

अर्थ—हे प्रथम जिनेश ! आपका दीप्तिमान प्रकाश सुज्ञानमय है और कोटि-कोटि चन्द्र तथा सूर्यों की पुंजीभूत तेजोराशि के सदृश है। आपके चरणारविन्दो मे

समस्त सुर तथा सुरेन्द्र आकर (उपस्थित होकर) अपनी-अपनी मुकुटमणियो को स्पर्शित कर धन्य होते है। मै आपकी शरण मे हूँ ॥१॥

जिस प्रकार सिद्धरस (शोधित पारद रसायन) के सम्पर्क से लोहा भी सुवर्ण मे परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार मै भी सदा परिशुद्ध एव केवल ज्ञानशाली सिद्धो का चिन्तन करते-करते आत्मसिद्धि को प्राप्त करूगा ॥२॥

मै देव, गुरु और शास्त्र मे श्रद्धानरूप व्यवहार तथा एकमात्र आत्मा को छोडकर अन्यत्र सर्वत्र परपदार्थमय निश्चय रखते हुए इसी लोक मे अलौकिक रूप से रहकर अपने आत्मा मे दृढ श्रद्धान रखते हुए तीन कम नवकोटि मुनीश्वरो के चरण कमलो मे प्रणाम करता हूँ ॥३॥

हे परम गुरो! आप सहजानन्द परब्रह्मस्वरूप है, त्रिभुवन मे साररूप है, अनन्त ज्ञान सम्पन्न एव चिदम्बर है, पुरुष (आत्मरूप) है तथा अष्टकर्म नष्ट कर निरजन-सिद्ध पद को प्राप्त है। आप दुरितो पर विजय प्राप्त करनेवाले तथा हस है। (हम सब अमुक्त जीव तो आत्मावस्थित न होने से कर्म के खिलौने है) हे देव! आपको अनन्त बार नमोऽस्तु। आप मुझे प्रत्यक्ष हो ॥४॥

हे परम गुरो! मै जिस समय शुभोपयोग मे प्रवृत्त होता हूँ तब आपको ही ध्यान स्थित करके कर्णाटक भाषा मे उपदेश करता हूँ ॥५॥

प्रारम्भिक

'ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय कृतपच नमस्कृति।
कोऽह को मम धर्म कि व्रत चेति परामृशेत् ।।

—सागारधर्मामृत ६।१

कार्यारम्भ के पूर्व उद्देश्य निर्धारण करना लोकरीति है । अज्ञ प्राणी भी विकल्प पूर्वक आहार-विहार मे प्रवृत्त होते हैं । फिर मनुष्य तो सज्ञी-पचेन्द्रिय प्राणी है—उसमे विवेक भी है । ससार मे चार पुरुषार्थो मे धर्म-पुरुषार्थ को ही प्रथम स्थान दिया गया है, क्योकि—'धर्मेण हीन पशुभि समान '—अर्थात् धर्म से हीन जीवन पशुतुल्य है । अत मनुष्य को प्रात काल उठते ही अपने कर्तव्य का ध्यान कर प्रतिदिन के उद्देश्य और कर्तव्य-कर्म पर विचार करना आवश्यक है । मै कौन हूँ, मेरा धर्म क्या है, मेरा व्रत क्या है ? इत्यादि बाते ज्ञात होने पर ही कर्तव्य पालन किया जा सकता है ।

मै कौन हूँ ? यह विचार आते ही मन मे एक झकारसी उठती है—उल्लास सा अनुभव किया जाता है, क्योकि यह प्रश्न आत्मा से सम्बन्ध रखता है और आत्म-लोक मे भी उल्लास का अनुभव किया जाता है । अत आत्मा की ओर जितना अधिक लक्ष्य जायगा उतना ही विशेष आल्हाद होता जायगा । अत आत्मा ही परमात्मा है ।

यदि परमात्मा के निकट जाना हो तो आत्मा की शरण जाना चाहिये। आत्मा वीतरागता रूप है। अत उसे पाने के लिये वीतराग-देव पच परमेष्ठी का लक्ष्य होना जरूरी है। जैसे बिना धागे की सुई के खोने की सम्भावना रहती है[1] अथवा जैसे बिना गाँठ मारा धागा कपडे की सिलाई करने मे असमर्थ है। वैसे ही बिना परमेष्ठी का लक्ष्य हुए और बिना उनका स्मरण किये, आत्मा का भटकना और ससार परिभ्रमण मे व्यर्थ चक्कर लगाना अवश्यभावी है। यदि कोई जीव नाम मात्र भी आत्मा-परमात्मा की चर्चा-वार्ता स्मरण आदि करता है, तो वह क्रमश सासारिक उच्चपदो को पाकर अन्त मे चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष तक को पाने का अधिकारी होता है[2]।

उक्त प्रसगो के विचार के आधार पर, कि लोग अपने दैनिक प्राथमिक कर्तव्य को समझे, यहाँ कुछ सग्रह किया गया है। हमारा दृढ विश्वास है कि यदि प्रस्तुत सामग्री का उचित उपयोग किया जायगा तो देवभक्ति, शास्त्रभक्ति और गुरुभक्ति के रूप सजोई यह लघु-पाठ-सामग्री जीवो को सम्यक्त्व उत्पत्ति और सम्यक्त्व दृढ करने मे सफल सिद्ध होगी। कहा भी है— "**अरहते सुहभत्ति सम्मत्तं, दसणेण सुविसुद्ध।**'

---

१ सुई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते महा णो वि।' —सुत्त पाहुड ३।३

२ नाम मात्र कथया परमात्मन भूरि जन्मकृतपापसक्षय।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गता कुर्वते हि जगता पति नरम्॥' —पद्मनदि पच० ४२

(लिग प्राभृत ६।४०) अर्थात् अरहत मे शुभभक्ति करना सम्यक्त्व है और वह प्रारम्भिक दर्शन से विशुद्ध रूप है ।

जो पाठ आपके समक्ष है, उसमे मूल-मत्र, मगलोत्तम-शरणपाठ, चउवीस-तित्थयर भत्ति और उवसग्गहर-स्तोत मूल-भाषा प्राकृत मे है। उनमे स्वाभाविक मधुरिमा है। उपलब्ध प्राचीन लिपिबद्ध जैनेतर ग्रन्थ–**वेदो से भी इस भाषा की प्राचीनता और उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है–** उनमे भी प्राकृत शब्द पाये गये है [1]। अत प्रत्येक भव्य मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि वह प्रतिदिन प्रात स्नानादि से निवृत्त होकर शुद्धता सहित इस लघुपाठ का उपयोग करे–और पच परमेष्ठी वाचक मत्र का जप करे, शास्त्रो मे मत्रजप के फल की तुलना प्रोषधोपवास-फल से की गई है [2]। आशा है सग्रह का सदुपयोग होगा।

एक बात और। जीवन मे दैनिक धार्मिक कृत्य और मृत्युकाल (जीवन के अन्तिम क्षणो) मे समाधि। ये दो ही क्रियाएं परमोपयोगी है। 'जो मूढ परम समाधि-को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था मे दान-पूजा आदि शुभ क्रियाओ को छोड देते है और मुनिपद मे छह आवश्यक कर्मो को छोडते है, वे दोनो बातो से भ्रष्ट है अर्थात् न तो यति

---

१ 'सक्तुमिव **तितउना** पुनन्तो।'' —ऋग्वेद १०।७१

२ 'अष्टोत्तर शत पूर्ण जपेदपराजित ।
मनोवाक्कायगुप्त सन् प्रोषधफलमश्नुते ॥'

है, न श्रावक है। तब उन्हे दोष ही है, ऐसा जानना।' एतावता दैनिक आवश्यक पालना श्रावक-मुनि सभी का कर्त्तव्य है। आशा है, उक्त सक्षिप्त पाठ-सग्रह जीवन को उपयोगी बनाने मे सहायक सिद्ध होगा। इसमे जन-जन का कल्याण निहित है। किमधिकम्?

प्राकृत भाषा

प्रस्तुत सग्रह मूल भारतीय-भाषा प्राकृत-भाषा मे निबद्ध है। यह भाषा प्राचीनतम सरल और सर्वजनोपयोगी तथा बाल-स्त्री मन्द-मूर्खों तक को सरलता से बोध देने वाली है। प्राचीन काल मे प्राकृत भाषा व्यापक रीति मे प्रचलित रही है। यही कारण है कि भारतीय कवियो और विद्वानो ने इसे अपनी कृतियो मे प्रमुख स्थान दिया है। इतना ही नही, उन्होने प्राकृत के उपयोगी होने का हेतु भी उपस्थित किया है। एक आचार्य के उद्गार तो सिद्धान्त के प्राकृत भाषानिबद्ध होने के हेतु के पूर्ण पक्ष मे है। वे कहते है—

'बालस्त्रीमन्दमूर्खाणा नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
प्रतिबोधाय तत्त्वज्ञैः सिद्धान्त. प्राकृत कृतः ॥१॥

---

१ 'यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थाया दानपूजादिक त्यजन्ति तपोधनावस्थाया षडावश्यादिक च त्यक्त्वोभयभ्रष्टा सन्तस्तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम्'।
—परमात्मप्रकाश २।५५

अर्थात् तत्वज्ञो ने चारित्र सबधी उपदेश पाने की इच्छा रखने वाले बालक, स्त्री, मन्दबुद्धि तथा मूर्खों (अपठितो) के प्रतिबोध के लिए सिद्धान्तो का प्रतिपादन प्राकृत मे किया। बाद मे सस्कृत साहित्य के नाटको मे स्त्री, चेटी, भृत्य तथा इस कोटि के अन्य सामान्य पात्र प्राकृतभाषी निर्दिष्ट हुए है। इसका भी यही आशय है कि तब जन साधारण की रुचि-रक्षा के लिये मच पर सस्कृत के साथ प्राकृत को भी स्थान देना आवश्यक था। विद्वान् कवियो ने यद्यपि बाद के काल मे सस्कृत मे काव्य, नाटक आदि निबद्ध किये पर वे भी प्राकृत की उपयोगिता को भुला न सके, इसीलिये उन्होंने दोनो भाषाओ को महत्त्व दिया। अर्थात्

'प्राय प्राकृतभारत्या क्वचित् सस्कृतमिश्रया।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽय ग्रन्थविस्तर ॥२॥

जैसे मणि और विद्रुममाला वर्ण शबल होकर शोभायमान होती है, वैसे प्राकृत-सस्कृत भारती सयोग परस्पर शोभा वर्द्धिष्णु है। भाव ऐसा है कि प्राकृत की उपयोगिता सदा से विद्यमान रही है। महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी तथा अन्य प्रादेशिक अपभ्र श भाषाएँ प्राकृत का परिवार है। 'प्राकृतशब्दानुशासन' मे प्राकृत की प्रशसा करते हुए लिखा गया है कि—

अनल्पार्थ सुखोच्चार शब्द साहित्यजीवितम्।
स च प्राकृतमेवेति मत सूत्रानुवर्तिनाम् ॥३॥

अर्थात् 'साहित्य को सजीवन प्रदान करने के लिये ऐसे शब्दो की आवश्यकता है, जिनमे अर्थ-बहुलता, सुखोच्चारण हो—प्राकृत भाषा मे ऐसे शब्दो का भण्डार है। इसी भाषा ने आजतक देश को अखण्ड रखा है।

इस ऐतिहासिक सत्य को कि प्राकृत भाषा सर्वभाषाओ की जननी है और भाषा-साम्यता का रूप हमें भाषा के ऐक्य होने के स्पष्ट प्रमाण दे रहे हैं,' अधिक काल तक भ्रम-दिशा मे स्थिर नही रखा जा सकता। यदि भाषा और उसके उद्गम पर विचारपूर्ण रीति से दृष्टिपात किया जाय तो ये प्रशस्तमार्ग विभिन्न धर्म-सस्कृति और प्रान्त-वादो के विवादो को सहज ही हल करने मे समर्थ हो सकता है। जिस प्रकार जल समुद्र मे प्रवेश करता है और भाप बनकर पुन समुद्र मे बाहर जाता है उसी प्रकार प्राकृत से सब भाषाओ का उद्गम होता है और उसी मे सब भाषाएँ फिर समाहित हो जाती है।[१] नीचे दिये गये रूपो से शब्दो की साम्यता भली-भाँति जानी जा सकती है।

'त्रिषष्ठिश्चतु षष्ठिर्वा वर्णा शम्भुमते मता।
प्राकृते सस्कृते चापि स्वय प्रोक्ता स्वयभुवा॥' —पाणिनीयशिक्षा, ३

१ 'सयलाओ इम वाया विसति एत्तो य णेति वायाओ।
एंति समुद्ध चिय णति सायरो ओच्चिय चलाइ॥'

शब्द साम्यता

प्राकृत	फारसी	अँग्रेजी	जर्मन	यूनानी	अपभ्रंश
पिदु	पिदर	फादर	फातेर	पटेर	पिहर
मादु	मादर	मदर	मुत्तेर	मटेर	माहेर
संस्कृत	**अवेस्ता**	**ग्रीक**	**तुर्की**	**लेटिन**	**अपभ्रंश**
पितृ	पितरा	पतेर	पातर	पातेर	पिअर
मातृ	मातर	मातेर	मातर	मातेर	मायर

-卐-

अनादि मूलमंत्र की मौलिकता

जन्म-मरण का नाम ससार है और इस ससार मे असख्य और अनत प्राणी अनादि काल से परिभ्रमण कर रहे है। जीव जैसे-जैसे भी अपने भावो को बनाता है—कर्मों को करता है, उसका ससार भी तदनुरूप बनता जाता है। इन्ही भावो और कर्मो के फलस्वरूप विविध योनियाँ प्राप्त होती है। सब योनियो मे मनुष्ययोनि श्रेष्ठ मानी गई है, क्योकि इस योनि मे जीव को विवेक और सत्कार्य करने के साधन सुलभ होते है। मनुष्य गति से ही मोक्ष माना गया है। अत बुद्धिमानो का कर्त्तव्य है कि वे अपने मानव जीवन को सफल बनाने के लिये प्रयत्नशील हो। हमारे तत्त्वदर्शी मनीषियो ने अनेक उपाय बतलाए है, उनमे भावो-मन को सन्तुलित, एकाग्र व निर्विकल्प बनाना सर्व श्रेष्ठ उपाय है। यदि मन पर काबू पा लिया जाय तब समझिये जीव का ससार से उद्धार निकट आगया। अत ज्ञानी जीवो का कर्त्तव्य है कि वे अपनी बुद्धि को आत्महित मे लगाये। क्योकि—'बुद्धेर्फल आत्महित प्रवृत्ति'। मन को एकाग्र करने—वश में करने के उपायो में सर्वोत्तम उपाय है—'पचपरमेष्ठी[1] का लक्ष्य'।

विश्व मे आज भौतिक सुख-साधनों की कमी नही, वे दिन पर दिन बढते चले जा रहे है। पाश्चात्य देशो मे तो उन साधनो को बढाने की होड-सी लग गई है।

---

१ जो परमपद में स्थित हो।

आज चन्द्र तथा अन्य ग्रहो मे पहुँच कर वहाँ आधिपत्य जमाने व सुख-साधनो की खोज के प्रयत्न किये जा रहे है । अमेरिका जैसे सुख-साधन-सपन्न देश भी इस भौतिक चमत्कार के चक्कर मे अरबो की सम्पत्ति व्यय करने मे लगे हुए है । पर, वे अभी सुख की खोज नही कर पा रहे है । इसका कारण क्या है कि इतना सब कुछ होते हुए भी वे आज भी त्रस्त है ? एक सतोषी भारतीय किसान की तुलना मे भौतिक साधनो मे अधिक सुख नही, सुख आत्मा मे है, मन मे है । यही कारण है कि अल्प-परिग्रही सतोषी सुखी है, उसका मन सीमित है । ठीक ही है–'मन चगा तो कठौती मे गगा ।' अत मन को निर्मल करना चाहिये और मन को निर्मल करने का उपाय तदनुरूप पच परमेष्ठी स्मरण अमोघ अस्त्र है । पच परमेष्ठी ही शुद्ध मन और शुद्ध आत्मा के प्रतीक है । शास्त्रीय परिभाषा मे पच परमेष्ठी को वीतराग नाम से कहा गया है और वीतरागता ही मन की शुद्धि है, सुख की साधिका है । अत वीतरागता की प्राप्ति में तत्पर होना ही श्रेयस्कर है । वीतराग-परमेष्ठी का स्मरण ही दु खो से दूर–आत्मस्वरूप सच्चे सुख की प्राप्ति का उपाय है । इसके विपरीत जब तक राग-भाव बढता रहेगा, दु ख बढते रहेगे । ऐसा विचार कर हर व्यक्ति को पच परमेष्ठी के लक्ष्य की ओर बढना चाहिये । प्रस्तुत प्रसग मे हम पचपरमेष्ठी वाचक अनादि मूलमत्र णमोकार (नमस्कार) मत्र का विवेचन करना उचित समझते है, इसके ध्यान से पूर्ण शान्ति मिल सकती है ।

आज जैन मान्यता के अनुयायी अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त है। दिक्-श्वेतादि सभी के आचार-विचार मे भेद दृष्टिगोचर होते है, पर मूल से वे अब भी सबधित और परस्पर मे एकरूपता को लिये हुए है। आप हिमालय से कन्याकुमारी तक चले जाइये। व्यावहारिक क्रियाकाण्डो मे मतभेद होते हुए भी जैन सम्प्रदाय के सभी वर्गो मे णमोकार मत्र की एकरूपता देखने को मिलेगी, सभी को पच नमस्कार मत्र प्रिय है, और सभी मे, सभी समयो पर इस मत्र का मूल-पाठ कल्याणप्रद माना जाता है। अत इस पर विचार करना, इसे समझना, इसका ध्यान करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। यह मत्र ही आत्म-रूप है [१] और आत्मा से सर्वथा अभिन्न एक रूप है[२]। अत परमेष्ठी ही आत्मज्ञान भी करा सकते है।[३]

---

१ 'अरुहा सिद्धायरिया उवज्झाया साहु पच परमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरण ।।' —कुन्दकुन्द, मोक्खपाहुड ६।१०४
अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँचो ही परमेष्ठी आत्मा मे ही वास करते हैं। अत आत्मा ही मुझे शरणभूत है।

२ 'अरहतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि ।
सो उवज्झायउ सो जि मुणि णिच्छइ अप्पा जाणि ।।' —योगसार १०४

३ 'य पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदु परमेष्ठिनम् ।' —अथर्ववेद १०।७।१७

अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु पच परमेष्ठी की श्रेणी मे आते है। जैन परम्परा मे इनके स्मरण के लिये प्राचीनतम एक मत्र प्रचलित है, जिसे णमोकार मत्र या पचनमस्कार मत्र कहते है। पृथक्-पृथक् इन पचपरमेष्ठी के वाचक नामो को सक्षेप मे इस प्रकार जाना जा सकता है—

णमो अरहंताणं

लोक मे प्रचलित इसके तीन रूप मिलते है—णमो अरहताण, णमो अरिहताण और णमो अरुहताण। इन तीनो मे प्रथम रूप प्राचीनतम, शुद्ध और प्राकृत भाषा सगत विदित होता है। ये मूलपद अन्य अर्थो मे प्रमुख न होकर अपने पूज्य अर्थ का द्योतन करता है। इसका निष्पादन (व्याकरण के अनुसार) यदि किया जाय तो 'अर्ह धातु' से 'अर्ह प्रशसायाम्' इस सूत्र से शतृ प्रत्यय होने पर 'अर्हत्' बना। 'उगि द चा नुम्सर्वनामस्थाने धातो' से नुम् होने पर 'अर्हन्त्' बना। 'स्वररहित व्यजन नास्ति'—नियमानुसार अरहत बना। मालूम होता है बाद के काल मे पद का भाव ठीक-ठीक न समझने के कारण इसे शत्रु-नाश के अर्थ मे लिया जाने लगा। यत इसका प्राकृत रूप कही-कही अरिहत भी होता है। पर वह 'अरि' रूप भी शत्रु भाव मे नही अपितु पूजा अर्थ मे ही है। यदि हम सर्वथा इसे सस्कृत व्याकरण और नियमो मे बाँधना चाहे तब इस पद का स्वरूप 'अरहताण' न होकर 'अरहतानाम्' होना चाहिये तथा यदि कर्मशत्रु का हनन करना भाव लेकर अरि का प्रयोग उचित माना गया होता तो इसका रूप अरहत के स्थान पर यदा-कदा 'हन्तारि'

भी हो जाना चाहिये था। परन्तु अनादि मूलमंत्र सदा से ही 'अरहंताणं' रूप में ही रहा है। धवलाकार ने भी णमोकार मंत्र के प्रथम पद का अर्थ करते समय अरहंत को अतिशयादि विभूषित अर्थ में ही बतलाया है और इस शब्द का प्रयोग केवलज्ञान अवस्था के बाद ही युक्तिसंगत बताया है[1]। हाँ, जिस किसी प्रकार केवलज्ञान से पूर्व की अवस्था अरिहंत कहलाकर शत्रुनाश के अर्थ में उसे खींचा जाने का प्रयास किया जा सकता था पर उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण और आप्तपरीक्षा आदि में भी जिन अरहंत को कर्महन्ता न कहकर कर्मभेत्ता ही कहा है। इसका कारण एक यह भी हो सकता है कि हन् धातु हिंसार्थक है जो प्राणत्याग—जीवघात से पूर्णतया संबंधित है और धर्म का शाश्वतरूप 'अहिंसा परमोधर्म[1] अर्थात् प्राणरक्षा है। अतः पूज्यार्थक 'अरहंत'[2] पद ही निर्दोष विदित होता है। देशभाषाओं की भिन्नता के कारण 'अरहंत' शब्द का उच्चारण विभिन्न रूपों में भी किया जाता है। जैसे—

प्राकृत=अरहंत। संस्कृत=अरहंत, अर्हन्। मागधी=अलहंत, अलिहंत। अपभ्रंश=अलहंतु, अलिहंतु। तमिल=अरुह। कन्नड=अरुहंत। इत्यादि। परन्तु

१ 'देवासुर मानव प्राप्त पूजाभ्योऽभ्यधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद् योग्यत्वादरहंत।'—धवला
'अतिशय पूजार्हत्वादरहंन्।' —वीरसेनाचार्य

२ 'दिव्यौदारिक देहस्थो धौतघाति चतुष्टयः।
ज्ञान दृग्वीर्य सौख्याढ्य सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः॥' —पंचाध्यायी, २।६०७

शारीरिक विकारों से रहित 'दिव्य औदारिक शरीर' में स्थित हैं, घातिकर्म-चतुष्टय को धो चुके हैं, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख से परिपूर्ण हैं और धर्म का उपदेश देते हैं, वे अर्हत्-अर्हन् कहलाते हैं।

मूलभाषा प्राकृत और मूल अनादि निधन मत्र होने के कारण मत्र क मूलरूप मे परिवर्तन उचित प्रतीत नही होता। इसके अतिरिक्त अन्य धर्मों के ग्रन्थो मे भी अरहत के जो रूप मिलते है वे भी प्राय पूज्य अर्थ मे ही प्रतीत होते है[1]। उक्त प्रसगो से 'अरहत' ही

---

१ **'अर्हन्ता** चित्पुरोदधेऽशेव देवावर्वते।'—ऋक० ६।८६।५
'अर्हन् विभर्षि मायकानि, धन्वार्हन्निष्क यजत विश्वरूपम्।
'अर्हन्निद दयसे विश्वमम्ब, न वा ओ जीयो रुद्र त्वदन्यदस्ति।"—ऋग० २।२२।१०
'यत्या**र्हन्तो** विहरन्ति त भूमिरामणेय्यक।'—धम्मपद ९८।९
'अर्हतामनुरूपाणा नादेय ह्यस्ति किचन।'—महा० शा० मो० २२६।१५
'अरहतान'—खडगिरि उदयगिरि शिलालेख, ईसापूर्व दूसरी शती।
'स्याद**र्हन्** जिन पूज्ययो'। —शाश्वत कोष ६४१
'अर्हन्नित्यथ जैन शासनारता।'—हनुमन्नाटक १।३
'अर्हत।'—वाराहमिहिर सहिता ४५।५८
'आर्हत।'—वायुपुराण १०४।१७६
'आर्हत।'—योगवासिष्ठ ९६।६०
'अर्हन्—देवान् यक्षि मानुषात् पूर्वो अद्य।'—ऋग्वेद २।५।२२।४।३
'अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामि शव स।'—ऋग्० ४।३।९।५२।५
आर्हत.।'—भागवत ११।२।२६ **'अर्हन्।'**—भागवत ५।६।९
'यथार**हन्तो** विहरन्ति त भूमि रामणेय्यक।' —अरहन्तवग्गो (पालि) ९
'भिक्षुओ, प्राचीनकाल मे जो भी **अर्हन्त** तथा **बुद्ध** हुए थे उनके भी ऐसे ही दो मुख्य अनुयायी थे जैसे मेरे अनुयायी सारिपुत्त मोग्गलायन थे।'—सयु V 164, गौतमबुद्ध पृष्ठ १७४

युक्तिसगत बैठता है। सस्कृत व्याकरण के अनुसार 'अर्ह प्रशसायाम्' धातु से (३।२।१३३) अर्हति इति अर्हत् (अथवा अर्हन्) सिद्ध पद होता है। इसका अर्थ है प्रशसनीय, योग्य। पाणिनि व्याकरण के 'अर्हतोनुम्च' (५।१।२४) गणसूत्र के अनुसार 'अर्हत्' शब्द को 'नुम्' होकर 'अर्हन्' सिद्ध होता है। अर्हत् की भाव अथवा द्रव्यलिग सज्ञा को 'आर्हन्त्य' कहते है।

अरहत का अन्य नाम 'जिन' भी है। मुनिव्रतधार साधु जब आत्म-शुद्धि के अपरिवर्तनीय स्तर पर पहुँच जाते है और उनके ज्ञानावरण कर्म आदि चार घातिया कर्मो का आत्मा से सबध नही रहता तब उन्हे 'जिन' कहा जाता है। जिन व्युत्पत्ति के मूल मे 'जयतीति जिन' अर्थ सन्निविष्ट है। यह जिन व्यपदेश भी उतना ही प्राचीन है जितना कि अरहत। परन्तु मूल मत्र णमोकार मत्र मे जिन गर्भित न कर 'अरहत' ही प्रमुख रखा गया है और उसी का उच्चारण किया जाता रहा है। 'जिन' शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी बहुलता से मिलता है[1]। जिन सज्ञा या

---

१ 'जयन्ति ते **जिना** येषा केवलज्ञान शालिनाम्।'
'सा जिह्वा या **जिन**' स्तौति तच्चित्त यज्जिने रतम्।' —पचतत्र अरी० १।११-१२
'शान्तिमासितुमिच्छामि स्वात्मन्येव**जिनो** यथा।' —योग वासिष्ठ १५।८
'शाक्यान् सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नान् **जिनानां** विदु।' —वाराही स० ६०।१९

अरहत सज्ञा दोनो समरूप मे प्रयुक्त होती है अर्थात् जिन और अरहत ये दोनो सज्ञाएँ केवलज्ञान होने से लेकर मुक्तपद (सिद्धपद) पाने से पूर्वतक व्यपदेश पाती है। यद्यपि सिद्ध अवस्था सर्वकर्मरहित होने से उत्कृष्ट है तथापि अनादि निधन पच नमस्कार मत्र मे अरहतो को प्राथमिकता दी गई है। इसका कारण यह कहा जाता है कि अरहत प्रत्यक्ष मे उपदेष्टा होने——कल्याणमार्ग दिखाने वाले होने से भव्य जीवो द्वारा प्रथम वन्दनीय होते रहे है। यत 'न हि कृत मुपकार साधवो विस्मरन्ति।' अर्थात् सज्जन—कृतज्ञ-पुरुष किसी के द्वारा किये गये उपकारो को विस्मृत नही करते है।

'जिन' शब्द प्राचीनतम है और यह भारत ही नही, अपितु भारत से बाहर भी प्रचलित रहा है। प्राचीन अभिलेखो से पता चलता है कि यह जावा-सुमात्रा जैसे लघु द्वीपो मे भी विपुलसम्मान को प्राप्त किये हुए था।[1] इसके अतिरिक्त भक्तो के

---

१ 'अनेन पुण्येन विहारजेन, प्रतीत्य जातार्थ विभाग विज्ञा ।।
भवन्तु सर्वे विभयो (वो) पपन्ना , जना जिनानामनुशामनस्था ।।'

बौद्ध-सस्कृति, राहुल सास्कृत्यायन पृ० ८३ और ९३.

'वज्र प्राकारमध्यस्ताप्रतिमाया जिनालय ।
श्रीमान् अमोघपाशेश हरि उदयसुन्दर ।।'

——सुमात्रा देशस्थ 'श्री विजय' मे शकाब्द १२६९ ई० (१३४७) शिलालेख

जिद कोहमाण माया जिदलोहा तेण ते जिणा होनि।' ——मूलाचार कुन्दकुन्द ७।७३

मुखारविन्द मे भी जिन शब्द का मधुर निनाद सदा ही गूँजता रहा है। एक कवि एक ही छन्द मे 'जिन' नाम को किस मधुरता से बार-बार दुहराते रहे है, नमूना देखिये—

'जिन सुमरो जिन चितवो, जिन ध्यावो सुमनेन ।
जिन ध्यायतहि परमपय लहिये एक क्षणेन ॥'

पुराण ग्रन्थो मे 'अजिन' शब्द आता है—बाद मे कोषकारो ने भी इस शब्द को मृग-चर्म अर्थ मे प्रयुक्त किया है। ऐसा मालूम होता है पुराण ग्रन्थो के आलोडन करने से भी सिद्ध है कि प्राचीनकाल से भारत मे ऋषि और मुनि ये दो परम्परायें रही। ऋषि ग्रहस्थी रूप मे सपत्नीक रहा करते थे और इनका प्रमुख काम उदासीन रहते हुए भी षोडश-सस्कार सपन्न कराना था। ये ही राजघरानो मे राजकुमारो को शिक्षा-दीक्षा देते थे और उनके विवाह-सस्कार आदि कराते थे। ये राजगुरु होते थे और इन्हे राजर्षि भी कहा जाता था। इसके विपरीत मुनि सर्वसावद्य से विरक्त और परम दिगम्बर होते थे और ये दिगम्बर ही कर्मजय के अधिकारी 'जिन' बनने मे समर्थ होते थे। ऋषियो को यह सौभाग्य प्राप्त न था कि वे 'जिन' हो सके। इसीलिए हो सकता है उन ऋषियो का नाम 'अजिन' रहा हो अर्थात् जो जिन नही है या जिन होने की योग्यता नही रखते वे 'अजिन' होते है। ये ऋषिगण मृगचर्म आदि रखते थे। सभवत कालान्तर से मृगचर्म ऋषियो (अ-जिनो) का उपलक्षण होने के कारण 'अजिन' नाम पा गया हो। 'जिन' की योग्यता विकसित करने वाले परम दिगम्बर वीतरागी मुनि 'जिन' मार्ग मे अग्रसर होने से 'जिन'

कहलाते रहे हो। 'अजिन' शब्द बाद मे तो मृगचर्म के अतिरिक्त देहस्थित चर्म मे भी प्रचलित हो गया। यथा—'अजिन पटल गूढ पजर कीकसानाम्।' इत्यादि।

हमारा तो विश्वास है कि 'जिन' और इसके वाचक अन्य शब्द भारत ही नहीं, अपितु एशिया की आत्मा में युग-युगान्तरो से श्रमण, अरहत, जिन, निर्ग्रन्थ और केवली आदि अनेकानेक जैन पारिभाषिक शब्द बीज और वृक्ष की जड की तरह आज भी व्याप्त है। '**क्षपणक**' शब्द भी नग्न श्रमण जैन साधुओ के लिये प्रयुक्त होता था। महाभारत मे लिखा है कि —'नागनरेश श्रमणो के उपासक थे। नागकुलीन राजा तक्षक नग्न क्षपणक हो गया था।'

'साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तकस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोपऽतश्यदथ पथि **नग्न क्षपणक**मागच्छन्त मुहुमुहुर्दृश्यमान मदृश्यमान च।'

—महाभारतादिपर्वणि पौष्यपर्व० तृ० अ० १२६

अर्थात् 'अच्छा, अब हम जा रहे है' ऐसा कहकर उत्तक दोनो कुण्डलो को लेकर वहाँ से चल दिये। मार्ग मे उन्होने अपने पीछे आते हुए एक नग्न क्षपणक को देखा, जो बार-बार दिखाई देता और छिप जाता था।

'यत्र क्षपणका[1] एव दृश्यन्ते मलधारिण।' —रुद्रसहिता पा० ख० २४।२१

---

१ क्षपणक—स० खवणअ > खडवडा > खवडा > खेवडा > खेवरा > खवण > खवणउ > खवणु > खेवडउ > शेवडा।

णमो सिद्धाणं

सिद्ध शब्द 'षिध्' धातु से बना है। इसका अर्थ गति है। सम्प्रसारण मे 'सिध्' से 'निष्ठा' सूत्र से 'क्त' प्रत्यय हुआ और 'झलाजशोऽन्ते' से त् को ध् हुआ तथा झलाजश् झशि' से ध् को द् हुआ तब 'सिद्ध' निष्पन्न हुआ। सिद्ध से तात्पर्य है—जो ससार के पार जा चुका हो अथवा अपने शुद्ध गुणो को प्राप्त हो चुका हो। अरहताण की भाति सिद्ध मे भी नमस्कार निर्देश करने वाली विभक्ति जोडी गई है और इसका उच्चारण 'णमो-सिद्धाण' सही माना गया है। जिनका आत्मनिर्मलतारूप स्वाभाविक कार्य निष्पन्न हो चुका—मुक्ति प्राप्त हो चुकी, उन्हे सिद्ध कहते हैं। ससार मे भ्रमण के हेतु अष्टकर्म हैं और ससारी जीव के साथ ये अनादि से लगे हैं। जब इनसे आत्मा सर्वथा भिन्न हो जाता है तब मुक्त और सिद्ध हो जाता है—उसके आत्मगुण स्वय मे प्रकाशित होते रहते है और सदाकाल प्रकाशित होते रहते हैं। सिद्धो का स्वरूप शास्त्रो मे जानना चाहिये।[1]

---

१ 'अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरजणा णिच्चा।
अट्ठगुणाकिदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥' —नेमिचद्राचार्य गोमट्टसार जीवकाण्ड

'असरीरा जीवघना उवजुत्ता दसणेय णाणेय।
सायार मणायारा लक्खणमेय तु सिद्धाण॥' —सिद्धभक्ति १

'सम्मत्त णाणदसण वीरिय सुहुम तहेव अवगहण।
अगुरुलहुमव्वावाह अट्ठगुणा हुति सिद्धाण॥'

'णमो सवसिधाण।' —खडगिरि उदयगिरि शिलालेख ईसापूर्व दूसरी शती

'णमो सिद्धाण' का अपभ्र श रूप हमे ग्रामीणो मे आज भी बहुलता से उपलब्ध होता है । ज्ञात होता है आध्यात्मिक परम्परा देहातो और झोपडियो तक मे पूर्ण व्याप्त रही है और जन साधारण इसी के माध्यम से आत्म-रूप का लक्ष्य रखते रहे है । क्योकि सिद्ध रूप आत्मा का विशुद्ध दर्शन है और प्रत्येक कार्य के आरम्भ मे इसका पाठ होता रहा है । प्रचलित '**ओ नामा सिधम्**' रूप ग्रामीण मगलाचरण' '**णमोसिद्धाण**' का अपभ्र श रूप ही है । स्मरण रहे, अक्षरज्ञान कराने की प्रारम्भिक दशा मे ग्रामीण जन बालक को सर्वप्रथम 'ओ नामा सिधम्' ही पढाते रहे है, जिसका भाव सिद्ध भगवान को नमस्कार करने मे है । इसका अर्थ होता है—सिद्धो को नमस्कार हो । इसका शुद्ध रूप है—

'ॐ नम सिद्धम् ।'

णमो आइरियाणं

आइरिय शब्द आ उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'चर' धातु से योग्य अर्थ मे ण्यत् प्रत्यय होकर बना है । 'आ+चर+य' इस रूप मे 'क् ग् च् त् द् प व वा प्रायोलुक्' से च् का लोप हुआ तब 'आ+अ+र+य' बना । 'यस्यरि' से रकार को 'रि' हुआ और आ+अ+रि+य रूप बना । 'इ सप्तादौ' से अ का 'इ' हुआ तब 'आइरिय' रूप बना । सस्कृत मे इसका रूप 'आचार्य' होता है । आइरिय अर्थात् आचार्य का भाव 'आचार (आचरण) पालन कराने मे अधिकारपूर्ण व्यक्ति' है । कहा भी है—'आचरितु योग्य

आचार्य'। कही कही इस पद का रूप भिन्न भी पाया जाता है—जैसे आइरीयाण। परन्तु विचारा जाय तो णमोकार मत्र ५८ मात्रा का है। यदि 'रि' के स्थान मे 'री' दीर्घ का प्रयोग किया जाय तो ५९ मात्रा होने से छद भग का दोष आता है। हेमचन्द्राचार्य ने 'आइरियाण' पद का उल्लेख किया है। अत प्राकृत भाषा के नियमानुसार 'णमो आइरियाण' ही शुद्ध है।

आचार्य परमेष्ठी तीसरे परमेष्ठी कहलाते हैं। इनके ३६ मूलगुण होते है।[१] १२ तप, ६ आवश्यक, ५ आचार, १० धर्म, ३ गुप्ति। ये मूलगुण मोक्षमार्ग मे कारणभूत है। इनमे रहने से निर्दोष मोक्ष-मार्ग सधता है।

णमो उवज्झायाणं

णमोकार मत्र का चतुर्थ पद उपाध्याय परमेष्ठी-वाचक है। उपाध्याय साधु (मुनि) ही होते है और ये सघस्थ मुनियो को पठन-पाठन कराते है। मूल प्राकृत उवज्झाय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

---

१ 'द्वादशधा तपो भेदा आवश्यका परे हि षट।
पचाचारा दशधर्मास्तिस्र शुद्धाश्च गुप्तय॥
आचार्याणा गुणा प्रोक्ता षट्त्रिशच्छिवदायक।' —सो त्रै १२।४६

'उप' उपसर्ग समीप अर्थ का द्योतक है और इङ् धातु अध्ययनार्थक है। इङ् धातु सर्वकाल अधिउपसर्गपूर्वक आती है। अत उप+अधि+इ ऐसी स्थिति मे घञ् प्रत्यय, वृद्धि, दीर्घ, यण्, आय होकर 'उपाध्याय' रूप बना। 'पोव' सूत्र से पकार को वकार और 'हृस्व सयोगे' सूत्र से वकार को हृस्व हुआ तब 'उवध्याय' बना। 'ध्यस्यज्झ' सूत्र से ध्य को ज्झ आदेश हो गया और 'उवज्झाय' रूप निष्पन्न हुआ। अनेको स्थानो पर इसका प्रचलन 'णमोबज्झायाण' रूप मे चल पडा है परन्तु वकार को बकार होने का विधान कही व्याकरण मे देखने मे नही आया और न ही उवज्झाय के पूर्ववर्ती उकार के लोप या पूर्वरूपी हो जाने का कही विधान है, अत 'उवज्झाय' रूप ही उचित और शुद्ध है। उपाध्याय को उपदेशक भी माना जाता है क्योकि ये भव्यजीवो को तत्त्वज्ञान का उपदेश करते रहते है, उन्हे अध्ययन भी कराते है। तथाहि—

'मिथ्यावादि मदोग्र ध्वान्त प्रध्वसिवचन सदर्भान्।
उपदेशकान् प्रपद्ये मम दुरितारि प्रणाशाय॥' —पचगुरु भक्ति ४

णमो लोए सव्वसाहूणं

लोक मे सर्व साधुओ को नमस्कार हो। 'साध्नोति स्वार्थमनपेक्ष्य परकार्यमिति साधु।' साध्नोति परकार्यमिनि वा साधु।' साधु शब्द मे स्व-पर दोनो हित निहित है। इस अर्थ का वाचक विग्रह प्रकार यह है—'साध्नोति निजस्यात्मन (कार्य) परेषा भव्य जन्तूना मुक्तिरूप कार्यमिति साधु।'

उक्त पद मे लोए और सव्व पद अन्त्य दीपक समझने चाहिये । इससे लोक के समस्त परमेष्ठियो का बोध हो जाता है । सर्वत्र पाँचो पदो मे ये दोनो शब्द न रखने का कारण मात्रा लाघव है । अन्यथा मूलमत्र मे सर्वपदो के साथ इनको सम्मिलित करने से १४ मात्रा की वृद्धि और हो जाती, जो वैयाकरणो को इष्ट नही है जबकि—'अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवो मन्यन्ते वैयाकरणा ।'

साहू (साधु) शब्द साध् (सिद्ध्यर्थक) धातु से उण् प्रत्यय होने पर बना है । इसमे 'र व द्य थ ध मा ह' सूत्र से ध को ह हो जाता है तब प्राकृत भाषा का रूप 'साहु' बनता है । 'साहू' की श्रेणी मे यद्यपि आचार्य व उपाध्याय भी आते है परन्तु विशेषता दिखाने के लिये उनके पदो का स्मरण मत्र मे प्रथम अलग से कर दिया गया है । हाँ, साधुओ मे और भी भेद बतलाए गए है । उन सब का ग्रहण करने के लिये भी सव्व पद पर जोर देना चाहिए ।[1] आचार्य उमास्वामी ने लिखा है कि—'पुलाक वकुश कुशील निर्ग्रन्थ स्नातका ।' ६।४६ इन भेदो को सक्षेप मे इस प्रकार जाना जा सकता है—

स्नातक (उत्तमोत्तम) तीर्थकर पूर्णज्ञानी, सर्वज्ञ (अरहन्त)

---

१ 'गुरुभक्तया वय सार्ध द्वीप द्वितयवर्तिन ।
वन्दामहे त्रिसख्यो न नव कोटि मुनीश्वरान्॥'

निर्ग्रन्थ[1] (उत्तम) सामान्य क्षीणमोह (अरिहन्त) अन्तर्मुहूर्त के पश्चात ही जिन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है ऐसे **क्षीणकषाय गुणस्थानवर्तियो** को निर्ग्रन्थ[2] कहते है ।

पुलाक (उत्तम-मध्यम) आचार्य, उपाध्याय, मुनि ।

वकुश (मध्यम) शरीर तथा उपकरण-सस्कार, यश-विभूति चाह (शवल,—चारित्र युक्त) ।

कुशील (जघन्य)—प्रतिसेवना, कषाय कुशील के भेद दो प्रकार के है ।

१ **प्रतिसेवनाकुशील**—मलगुणो से युक्त, उपकरण मे ममत्व, उत्तरगुण रहित ।

२ **कषायकुशील**—शेष कषाय विजयी, सज्वलन शेष ।

उक्त सभी प्रकार के साधु, आचार्य और उपाध्याय 'श्रमण' पद से प्रसिद्ध हुए है । 'श्रमण' शब्द बडे महत्त्व का है । 'श्राम्यतीति श्रमण ।' अर्थात् जो मुक्तिमार्ग के प्रति तप-सयम-ध्यान रूप श्रम—उद्योग करे । जैन शास्त्रो मे इन श्रमणो को भी चार भागो मे विभक्त किया गया है । यथा—

---

१ 'कथा कौपीनोत्तरा सगादीना त्यागिनो ।
यथाजात रूपधरा '**निर्ग्रन्था**' निष्परिग्रहा ॥' —तैत्तिरीय अरण्यक १० प्र अनु ६३

२ 'आत्मारामश्च **मुनयो निर्ग्रन्था** अप्युरुक्रमे।' —भागवत १।७।१०

'णामेण जहा समणो ठावणिए तह य दव्वभावेण ।
णिक्खेवो वीह तहा चदुव्विहो होइ णायव्वो ।।'

—आचार्य कुन्दकुन्द मूलाचार १०।१४४

नाम श्रमण, स्थापना श्रमण, द्रव्यश्रमण, भावश्रमण ये श्रमणो के चार भेद है [1] । जैनेतर पुराणो मे भी श्रमणो (दिगम्बर मुनियो) की बडी महिमा बतलाई गई है । भागवत-कार ने ऋषभदेव के वर्णन मे लिखा है —

नवा भवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिन. ।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदा. ।।'

—भागवत ११।२।२०

(उस समय) ऋषभदेव के नौ पुत्र मुनि बन गये । वे महाभाग्यशाली और तत्त्व का व्याख्यान करने मे निपुण थे । उन आत्मविद्या विशारदो को श्रमण (तप श्रम करने वाले) एव वातरशन (तनूदरी वृत्ति पालनार्थसूक्ष्म—अल्प आहार लेकर प्राण धारण करने वाले) कहते है । (श्रमणा 'दिगम्बरा श्रमणा वातरशना ।' इति निघण्टु)

---

१ श्रमणो की भाति श्रावको मे भी चार भेद कहे गये हैं—
'नामत स्थापनातोऽपि, जैन पात्रायतेतराम् ।
सलभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभि ।।' —आशाधरसूरि सागारधर्मामृत ४५

यद्यपि श्रमण दिगम्बर मुनि पद साहस साध्य है, अच्छे सहनन वाले इसमे सफल होकर मोक्ष प्राप्त कर पाते है, तथापि परम्परया मोक्षमार्ग प्रशस्त करने की दृष्टि से सभी सहनन वाले मानव इस पद को ग्रहण करने के अधिकारी हैं, ऐसा आचार्यो का विधान है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दो मे वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असप्राप्तास्रिपाटिका इन छहो सहननो मे से किसी एक के धारी दीक्षा ग्रहण के अधिकारी है, दीक्षा लेने वाले और दीक्षा की भावना रखने वाले पुरुष भव्य है और कर्मक्षय मे कारण है।'[1] यही कारण है कि जिनधर्म-मुनिधर्म की धारा इस दु खमय पचमकाल मे भी अन्त्यावधि पर्यन्त बतलाई गई है और आज भी परम दिगम्बर श्रमण मुनियो की सत्ता विद्यमान है। कहा भी है—

'नीच सहनन कालो दु सहश्चपल मनः।
तथापि सयमो युक्ता महाव्रत धुरधरा ।।'

—वामदेव, भावसग्रह

उक्त प्रकार से पच परमेष्ठी का सक्षिप्त-स्वरूप दिग्दर्शन मात्र है, जो हमारे मुमुक्षु और धर्ममार्ग-अभिलाषियो की जिज्ञासा की शान्ति हेतु दिखाया गया है। वैसे

---

१ 'जिणमग्गे पव्वज्जा छह सघयणेसु भणिय णिग्गथा।
मावति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ।।' —कुन्दकुन्द बोधप्राभृत ५।५४

जिज्ञासा का कोई अन्त नही और वह अनुभव दशा मे ही शान्त हो सकती है। आशा है, यदि पाठको ने इसे हृदयगम किया तो इस सक्षेप का विस्तृत लाभ मिल सकेगा। वट बीज से ही वटवृक्ष होता है, जिसकी छाया मे हजारो-हजारो जन सुख से विश्राम लेते है।

ॐकार[1] बिन्दुसयुक्त नित्य ध्यायन्ति योगिनः।
कामद मोक्षद चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥

बिन्दु सहित ॐ कार का योगीजन नित्य ध्यान करते है। यह ऐहिक-आमुष्मिक (काम, अर्थ, और धर्म) तथा पारमार्थिक (मोक्ष) दोनो फलो का प्रदाता है। ॐकार को हमारा बारम्बार नमस्कार है।

ॐकार परम-आत्मा का प्रतीक शब्द है, इसमे एकाग्र होना सिद्धि के लिये अत्यन्त अपेक्षित है। ॐकार को प्रणव[2] भी कहते है। जो कभी जीर्ण नही होता,

---

१ 'ॐकारे परमात्मप्रतीके दृढामैकाग्र्यलक्षणा मति सन्तनुयात्।'
—छान्दोग्योपनिषद् शाकरभाष्य १।१, १

२ 'प्रणव प्रणय प्राण प्राणद प्रणतेश्वर।' —जिनसेन—सहस्र० ६।११

'स्मर दुःखानलज्वाला—प्रशान्तेर्नवनीरदम्।
प्रणव वाङ्मय ज्ञानप्रदीप पुण्यशासनम्॥' —ज्ञानार्णव ३८।३१

प्रत्युत प्रतिक्षण नवीन, नवीनतर, नवीनतम होता रहता है, वह प्र=नव=प्रणव है, ॐकार परम-आत्मा है। प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणामयतीत्येतस्मात् प्रणव ।' सपूर्ण प्राणो को परमात्मा के सम्मुख नतमौलि कराने मे सहायक है अत इसे 'प्रणव' कहते है।

'अरहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पणमक्खर णिप्पण्णो ॐकारो पंच परमेट्ठि ॥'

—मानतुंगाचार्य, नमस्कारमत्रस्तव।

'ॐकार' पच परमष्ठी वाचक है। अरहत, अशरीर–सिद्ध, आचाय उपाध्याय और मुनि इन पांच परमेष्ठियो के प्रथम अक्षरो से इसकी निष्पत्ति होती है तथाहि—

अरहत का **अ**, अशरीर का **अ**, आचार्य का **आ**, उपाध्याय का **उ** मुनि का **म्**
अ+अ=आ (अक सवर्णे दीर्घ) दीर्घ आ
आ+उ=ओ (आद्गुण) गुण ओ
ओ+म्=ओं (मोऽनुस्वार) अनुस्वार।

'अरहत णमोक्कार भावेण य जो करेदि पयडमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावइ अचिरेण कालेण ।।'

—जयधवला पु० १, पृ० ८—९

जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहत को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दु खो से मुक्त हो जाता है ।

जइ णिमिसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ ।
अग्गि-कणीजिम कट्ठ-गिरी डहइ असेसु वि पाउ ।।'

—योगीन्दु, परमात्मप्रकाश १।१११

जो जीव **अर्द्धनिमेष मात्र** काल भी **परम-आत्मा** मे अनुराग करता है वह सम्पूर्ण पाप कर्मो को उसी प्रकार भस्म कर देता है जिस प्रकार अग्नि का तुच्छ कण काष्ठ के समह को (क्षणभर मे) भस्म कर देता है ।

---

१ नयनपुटविघटनेन व्यज्यमान सख्यातीतसमयो **निमिष** ।

'जेण्हाणं णिरवेक्ख सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकम्पयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ।।'

—प्रवचनसार, कुन्दकुन्द ३।५१

'आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ।।'

—अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धयुपाय ३०

मूल-मंत्र णमोकार

णमो अरहंताणं	**अरहंतो को नमस्कार**
णमो सिद्धाणं	**सिद्धों को नमस्कार**
णमो आइरियाणं	**आचार्यों को नमस्कार**
णमो उवज्झायाणं	**उपाध्यायो को नमस्कार**
णमो लोए सव्वसाहूणं	**लोक में सर्व साधुओ (श्रमणमुनियो) को नमस्कार।**

माहात्म्य

एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेंसि पढमं हवइ मंगलं ॥'

अर्थ—यह पच नमस्कार (मत्र) सर्व पापो की निर्जरा करने वाला है और सर्व मगलो में प्रथम (उत्तम) मगल है।

अपवित्र पवित्रो वा सुस्थितो दु स्थितोऽपिवा ।
ध्यायेत् पचनमस्कार सर्व पापै प्रमुच्यते ।।
अपराजित मत्रोऽय सर्वविघ्नविनाशन ।
मगलेषु च सर्वेषु प्रथम मगल मतम् ।।'

भावार्थ–पचनमस्कार को किसी भी अवस्था मे स्थित होकर ध्यान करे–सभी अवस्थाओ मे इसका स्मरण-उच्चारण समस्त पापो मे छुटकारा दिलाता है । यह मत्रराज अविजित है, सर्व विघ्नो को दूर करने वाला और सर्व मगलो मे प्रथम मगल माना गया है ।

मंगलोत्तम शरण पाठ

चत्तारि मगल—	चार (ही) मगल है।
अरहता मगल।	अरहत मगल है।
सिद्धा मगल।	सिद्ध मगल है।
साहू मगल।	साधु (श्रमणमुनि) मगल है।
केवलि पण्णत्तो–	केवलि प्रज्ञप्त (कथित)
धम्मो मगल।	धर्म्म मगल है।
चत्तारि लोगुत्तमा—	चार (ही) लोक में उत्तम है।
अरहता लोगुत्तमा।	अरहत लोक में उत्तम है।
सिद्धा लोगुत्तमा।	सिद्ध लोक में उत्तम है।
साहू लोगुत्तमा।	साधु (श्रमणमुनि) लोक में उत्तम है।
केवलि पण्णत्तो–	केवलि प्रज्ञप्त (कथित)—
धम्मो लोगुत्तमो॥	धर्म लोक में उत्तम है।

चत्तारि सरण पवज्जामि——	चार की (ही) शरण को प्राप्त होता हूँ ।
अरहते सरण पवज्जामि ।	अरहतो की शरण को प्राप्त होता हूँ ।
सिद्धे सरण पवज्जामि ।	सिद्धो की शरण को प्राप्त होता हूँ ।
साहू सरण पवज्जामि ।	साधुओ (श्रमण मुनियो) की शरण को प्राप्त होता हूँ ।
केवली पण्णत्त—	केवली प्रज्ञप्त (कथित)——
धम्मं सरणं पवज्जामि ।।	धर्म की शरण को प्राप्त होता हू ।

माहात्म्य

"झायहि पच वि गुरवे मगलचउसरण लोय परियरिए ।
णर–सुरखेयर–महिए आराहण णायगे वीरे ।।'

——भावपहुड १२४

–पञ्च परमेष्ठी मगल रूप है, अरहत, सिद्ध, साधु, केवलि प्रज्ञाप्त धर्म से युक्त है, नर-सुर-विद्याधरो से पूज्य है, और ये पचपरमेष्ठी वीर है । दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप इन चार आराधनाओ मे नायक-प्रमुख है (इसी हेतु पच परमेष्ठी को गुरु-सज्ञा भी दी है) ये ही चतु शरणभूत और लोक से सेवित है ।

चउवीस-तित्थयर भत्ति

—आचार्य देव, कुन्दकुन्द

त्थोस्सामि हृ जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे ।
णर-पवर लोय महिये, विहुय रयमले महाप्पणे ॥१॥

लोयस्सुज्जोयकरे, धम्म तित्थंकरे जिणे वंदे ।
अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेव केवलिणो ॥२॥

उसहमजियं च वन्दे, सभवमभिणदण च सुमइ च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥

सुविहिं च पुप्फयत, सीयल सेय च वासुपुज्ज च ।
विमलमणत भयव धम्मं संति च वंदामि ॥४॥

कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदाम्यरिट्ठणेमि तह पासं वड्ढमाण च ॥५॥

एवं मए अभिभूया विहुय रयमला पहीण जरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥

कित्तिय वंदिय महिया ए ए लोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
आरोग्गणाणलाहं दितु समांहि च मे बोहिं ।।७।।
चदेहि णिम्मलयरा आइच्चेहि अहियपहा स्ता ।
सायरमिव गभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसतु ।।८।।

अर्थ

मै अनन्त जिनेन्द्रो, तीर्थकरो और केवलियो की वन्दना स्तुति करता हूँ । वे सभी माहात्म्य को प्राप्त, रज (कर्म) मल-रहित और लोक प्रमुख मानवो से पूजित है अथवा मानवो मे प्रमुख और लोकपूज्य है । लोक को प्रकाशित (उपदेश द्वारा) करने वाले, धर्मरूपी तीर्थ के कर्ता अरहत, चौबीस केवली (तीर्थकर) का मै कीर्तन करता हूँ ।

मै ऋषभ और अजितनाथ की वन्दना करता हूँ, सभव, अभिनन्दन और सुमतिनाथ की वदना करता हूँ । पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ की वन्दना करता हूँ ।

'पणमहु चउवीसजिणे तित्थयरे तत्थ भरहखेत्तम्मि ।
भव्वाण भवरुक्ख छिदते णाणपरसूहि ।।' ——तिलोयपण्णत्ती ४।५१४

अर्थ——भरतक्षेत्र सबधी चौबीस जिन-तीर्थकरो को वन्दन करता हूँ। ये तीर्थंकर अपने ज्ञानरूपी कुठार (फरसे) मे भव्यो के ससार (भ्रमण) रूप वृक्ष को काटते है ।

सुविधिनाथ (पुष्पदन्त), सीतलनाथ, श्रेयांसनाथ वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ और शान्तिनाथ की वन्दना करता हूँ।

जिनवर श्री कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, सुव्रत (मुनिसुव्रतनाथ) नमिनाथ, अरिष्टनेमि (नेमिनाथ), पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान (महावीर) की वन्दना करता हूँ।

इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किये गये, कर्ममल रज से रहित, बुढापा व मरण से रहित जिनवर, चौबीस तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न होवे।

लोकोत्तम जिन, सिद्ध, मेरे द्वारा वचन से कीर्तन किये गये, पूजन किये गये और मेरे द्वारा वदित (समस्त) हुए मुझे आरोग्य, ज्ञान बोधि दे, मुझे समाधि दे।

चन्द्र से निर्मलतर, सूर्य से अधिक प्रभाशील, सागरवत् गम्भीर सिद्ध मुझे (लौकिक और पारमार्थिक दोनो) सिद्धि देवे (यह मेरी भावना है)—

'इच्छामि'[1] भते ! चउवीस तित्थयरभत्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउ,

---

१ व्रत-नियम-उपनियम का धारण इच्छा प्रधान है। यत 'भय के भार से लदी हुई मृत-धर्मक्रियाएँ तो साधक के जीवन को कुचल देती हैं। हीन बना देती है। विकासोन्मुख धर्म-साधना स्वतत्र इच्छा चाहती है, मन की स्वय कार्य के प्रति होने वाली अभिरुचि चाहती हैं। यही कारण है कि जैन धर्म की साधना मे सर्वत्र 'इच्छामि', का प्रयोग होता है। 'इच्छामि का अर्थ है मैं स्वय चाहता हूँ, अर्थात् यह मेरी स्वय अपने हृदय की स्वतत्र भावना है।' —श्रमणसूत्र ३५८

पचमहाकल्लाण मपण्णाण, अट्ठमहापाडिहेर सहियाण, चउतीस अतिसय विसेससजुत्ताण, सददेविदमणिमउडमत्थयमहियाण, बलदेववासुदेव चक्कहर रिसिमुणि, जइ अणगारोब गूढाण, थुइसयसहस्सणिलयाण, उसहाइ वीर पच्छिममगलपुरिसाण णिच्चकाल अचेमि, पूजेमि, वदामि, णमसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमण, समाहिमरण, जिणगुणसपत्ति होउ मज्झ ।

हे भन्ते! मैंने स्वेच्छापूर्वक (इच्छामि) चौबीस तीर्थकरो की भक्ति रूप कायोत्सर्ग किया और आलोचना (दोषो का कथन) किया । मै पच कल्याणको से सपन्न, अष्ट प्रातिहार्यो से रहित, चौतीस विशेष अतिशयो से सयुक्त शत-देवेन्द्रो के मणियुक्त मुकुटो से युक्त नतमस्तको से महिमा को प्राप्त, बलदेव-वासुदेव-चक्रधर-ऋषि-मुनि-यति-अनगार-उपगूढो के द्वारा हजारो-हजारो स्तुतियो के निलयरूप ऋषभ आदि वीरपर्यंत मगल महापुरुषो की नित्यकाल पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ । मेरे दुःखो का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, मुझे बोधि (ज्ञान) लाभ हो, मेरा सुगति मे गमन हो, समाधिमरण हो और मेरे जिनगुण रूप सपत्ति होवे अर्थात् मै जिन बनूँ (ऐसी मेरी भावना है) ।

उवसग्गहर-स्तोत्र

—श्री भद्रबाहु विरिचितम्

उवसग्गहर पास पास वंदामि कम्मघणमुक्क ।
विसहर-विसणिण्णासं मगलकल्लाण आवास ॥१॥

विसहर-फुलिग मंत कठे धारेइ जो सया मणुओ ।
तस्स गह-रोग-मारी दुट्ठ-जरा जति उवसामं ॥२॥

चिट्ठउ दूरे मतो, तुज्झ पणामोवि बहुफलो होइ ।
णर-तिरिएसुवि जीवा पावति ण दुक्खदोगच्च ॥३॥

तुह सम्मत्ते लद्धे चितामणि कप्पपाय वब्भहिए ।
पावति अविग्घेण जीवा अयरामर ठाण ॥४॥

इअ संथुओ महायस ! भत्तिब्भरनिब्भरेण हिअएण ।
ता देव दिज्जबोहिं भवे भवे पास जिणचंदं ॥५॥

'उपसर्गहरं स्तोत्र कृतं श्रीभद्रबाहुना ।
ज्ञानादित्येन संघाय शान्तये मंगलाय च ॥'

अर्थ—मै घातिया कर्मों से रहित, उपसर्गहारी तीर्थंकर पार्श्वनाथ की वन्दना करता हूँ। भगवान् विषधर के विष का शमन करने वाले है तथा मंगल एव कल्याण के निवास है। विघ्नहरण शक्ति से स्फुलिंग के समान दीप्तिमान इस स्तोत्र को जो मनुष्य नित्य कण्ठ मे धारण करता है (कण्ठस्थ रखता है, कण्ठ द्वारा उच्चारण करता है) उसके ग्रह-पीडा रोग, महामारी तथा वार्धक्य से उत्पन्न दुष्ट व्याधियाँ शान्त हो जाती है। हे भगवन्, मन्त्रोपचार तो दूर की बात है, उसे छोड भी दे तो भी आपको श्रद्धा-भक्ति से किया गया एक प्रणाम-मात्र बहुफलदायी होता है। नर और तिर्यञ्चगति मे उत्पन्न जीव आपकी भक्ति मे दुःख तथा दुर्गति नही पाते। चिंतामणि और कल्प-पादप के समान सम्यक्त्व को प्राप्त आपको साक्षात् आत्मसात् कर, जीव निर्विघ्न अजर-अमर स्थान प्राप्त कर लेते है। हे महान् यशस्विन्, भक्ति की अतिशयता से भरित हृदय से मै आपकी स्तुति करता हूँ। हे पार्श्वजिनचन्द्र, मुझे बोधिलाभ हो, ऐसी प्रार्थना है।

विधि—'श्री भद्रबाहुस्वामि प्रसादात् एष योग फलतु।' ऐसा प्रथम बोलकर सत्ताईस दिनो तक प्रतिदिन सत्ताईस बार एक चित्त से 'उवसग्गहरण' का पाठ करे। ऐसा करने मे उसका उपसर्ग मिटे और आई हुई आपदा दूर हो।

यदि धर्म पर महान् उपसर्ग आजावे तो उस समय भी मुनि महाराज अथवा श्रावक 'उवसग्गहरण' पाठ का उपयोग करे, प्रातः साय नियमित रूप से पाठ पढते रहे। यदि

गृहस्थ (श्रावक) धर्म पर महान् उपसर्ग आवे या किसी धर्मात्मा श्रावक पर उपसर्ग आवे (वह उपसर्ग राजद्वारा हो या किसी अन्य द्वारा,) तो उपसर्ग ग्रस्त व्यक्ति स्वय इसका पाठ करे। यह प्रयोग किसी रोग के उपसर्ग पर न करे।

प्रात काल स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण कर, पूर्व अथवा उत्तर मुख बैठ जाए और सामने चौकी अथवा पट्टे पर धूप तथा घृतदीप रख ले। सफेद माला का उपयोग करे। कम से कम सत्ताईस बार करे और भारी उपसर्ग की स्थिति मे १०८ बार अथवा जितनी अधिक हो सके, उतनी बार करे। इसी प्रकार रात्रि मे शयन से पूर्व करे। कम से कम सत्ताईस दिन अथवा जब तक उपसर्ग-शमन न हो बराबर ही उपयोग करता रहे। उपसर्ग अवश्य शान्त होता है। यह उवसग्गहर-स्तोत्र दिग्-श्वेत और पट्टिका, तीनो सम्प्रदायो मे समान रूप से पढा जाता है।

※

सामायिक

'सामायिक' शब्द 'समय' से बना है। तदनुसार समय मे होने वाली क्रिया सामायिक कहलाती है। समय के विभिन्न अर्थ हैं। परन्तु प्रसग मे आत्मा एव समय (Time) दो ही ग्रहण किये जाते रहे हे। मूलत तो जीवो का कल्याण आत्म-रमण क्रिया से ही होता है और उस त्रिया के लिये कोई समय निश्चित नही है। जब भी मनोयोग आत्मा मे स्थिर हो सके वही सामायिक काल है। फिर भी दैनिक और चौबीसो घण्टो की सासारिक क्रियाओ मे व्यस्त व्यक्ति को (उसकी सुधार दृष्टि से) सामायिक के प्रात मध्यान्ह और साय तीन काल निश्चित कर रखे हे। इन समयो मे न्यूनाधिक रीति मे आत्म-स्थिरता परम आवश्यक है। इस त्रिया के करने से पूर्व व्यक्ति को अपने मन को सासारिक पर-पदार्थो से हटाना चाहिये, जिसके लिये उन पदार्थों के स्वरूप पर विचार करना सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को जैन शासन मे द्वादशानुप्रेक्षा या बारह भावना नाम से सम्बोधित किया गया है। वे अनुप्रेक्षाएँ निम्न प्रकार है—

१. अनित्य . राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार ॥

२. अशरण : दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
मरती बिरियाँ जीव को, कोई न राखन हार ॥

३. ससार — दाम बिना निरधन दुखी, तृष्णावश धनवान ।
कहू न सुख संसार में, सब जग देख्या छान ॥

४. एकत्व — आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय ।
यो कबहूं या जीव को, साथी सगा न कोय ॥

५. अन्यत्व — जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय ।
घर संपति पर प्रकट है, पर हैं परिजन लोय ॥

६. अशुचि — दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड पींजरा देह ।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिनगेह ॥

७. आस्रव — मोह नींद के जोर, जगवासी घूमैं सदा ।
कर्मचोर चहुओर सरवस लूटैं सुधि नहीं ॥

८. संवर — सत्गुरु देय जगाय, मोह नींद जब उपशमैं ।
तब कुछ बनै उपाय कर्म चोर आवत रुकैं ॥

९. निर्जरा — ज्ञान दीप तप तेल भरि, घर शोधैं भ्रम छोरि ।
या विधि बिन निकसै नहीं, बैठे पूरब चोर ॥
पंच महाव्रत संचरन समिति पंच परकार ।
प्रबल पंच इन्द्रिय विजय धारि निर्जरा सार ॥

१०	लोक	चौदह राजु उतग नभ, लोक पुरुष सठान । तामै जीव अनादितें भरमत है बिन ज्ञान ।।
११	धर्म	जाचे सुरतरु देय सुख चितत चिंतारैन । बिन जाँचे बिन चितवे धर्म सकल सुख दैन ।।
१२	बोधि-दुर्लभ	धन-कन-कचन राज सुख, सबहि सुलभ करि जान। दुर्लभ है ससार मे एक जथारथ ज्ञान ।।

उक्त बारह-भावनाओ के भाव को हृदय मे उतार कर स्थिर भावो से पर्यंकासन या अर्धपद्मा-सन लगाकर पूरब या उत्तरमुख नासाग्र-दृष्टि बैठकर पचपरमेष्ठी वाचक अनादि मूलमत्र का जप (१०८ वार) करना चाहिये। समय कम होने पर अन्य जाप भी किये जा सकते है । इस जाप से अशुभ कर्मो की निर्जरा होती है क्योकि ध्याता के लिये पुण्यतम मत्र का जाप शास्त्रो मे विहित है[२]।

---

१ 'मोक्खगया जे पुरिमा अणाइकालेण बार अणुपेक्ख ।
परभाविऊण सम्म पणमामि पुणो पुणो तेसिं ।।' —कुन्दकुन्द बारसअणुपेक्खा, ८४

२ 'सामायिक णमो अरहताणमिति प्रभत्यथ स्तवनम् ।
थोस्सामीत्यादि जयति भगवानित्यादि वदना युञ्जात् ।।
—अनगारधर्मामृत ८।५६

श्री पुरुदेवाष्टकम्

आचार्य विद्यानन्द

पुरा यज्जन्मागप्रचितसुकृतख्यातिकुशलान्
लुलोके सुस्वप्नानुषसि जननी षोडशकलान् ।
ववर्ष श्रीनाभेः सदसि धनदो रत्ननिचयं
श्रियै जायेतासौ प्रथमजिनदेवः पुरुपतिः ।।१।।

अर्थ—माता मरुदेवी ने प्रभात समय मे जिनके गर्भावतार से पूर्व विशिष्ट पुण्यशीलता को ख्यापित करने वाले षोडश सुन्दर स्वप्नो का अवलोकन किया तथा श्रीनाभिराज के यहाँ कुबेर रत्नवर्षा करता रहा—वह प्रथम जिनेन्द्र भगवान् पुरुदेव श्रीवृद्धि कारक हो ।

सुरद्रूणां लोपे गहनतरशोकाब्धिपतित-
प्रजानामालम्बप्लव इव बभौ यस्य धिषणा ।
समुन्मीलज्ज्ञानत्रिकविचकिलस्वान्तकमलः
श्रियै जायेतासौ प्रथमजिनदेवः पुरुपतिः ।।२।।

अर्थ—कल्पवृक्षो के अदृश्य होने पर गहन शोकसिन्धुमग्न प्रजाओ के लिए जिनका विवेक आलम्बन पोत हो सका वह मति, श्रुत, अवधि ज्ञानत्रयधारक प्रथम जिनेन्द्र भगवान् पुरुदेव श्रीवृद्धिकारक हो ।

नटन्त्या नीलाया झटिति निधनं प्रेक्ष्य बलवद्–
विरागाविर्भावोऽजनि मनसि यस्य द्रुततरम् ।
परित्यक्त राज्य निखिलभवमोहो विरहित
श्रियै जायेतासौ प्रथमजिनदेव पुरुपति ।।३।।

अर्थ—नृत्य करती हुई नीलाञ्जना के सद्य निधन को देखकर जिनके मन मे तत्क्षण वैराग्य उत्पन्न हो गया और जिन्होने राज्य त्याग दिया एव समस्त मोहभाव का निर्मूलन कर दिया वह प्रथम जिनेन्द्र भगवान् श्रीवृद्धिकारक हो ।

वटच्छाया छत्र निरवधिधरै वासनमभून्
मरुत्पान कृत्वा प्रणिधिनिरतो वातरशन ।
अपद्रोहं तस्थु खगमृगगणा य च परित
श्रियै जायेतासौ प्रथमजिनदेव. पुरुपति· ।।४।।

अर्थ—मुनिमार्ग मे प्रवृत्त तीर्थंकर को वटवृक्ष ही छत्र था, विस्तीर्ण पृथिवी ही आसन थी। वह वायु सेवन कर समाधि मे लीन प्रथम वातरशन मुनि हुए। पक्षी और वन के पशु परस्पर निर्वैरभाव से उनके चतुरस्र विचरण करते थे। वह प्रथम जिनेन्द्र तीर्थंकर पुरुपति श्रीवृद्धिकारक हो।

अभंक्त्वा य नैव व्रजति कृतपुण्योऽपि कुशल
कठोर· पाशोऽय भवति बलवान् कर्मजनित ।
इतीवार्धं वर्षं क्षुधित इव बभ्राम भुवन
श्रियै जायेतासौ प्रथमजिनदेव. पुरुपति ॥५॥

अर्थ—कर्मपाश बहुत दृढ होता है। पुण्यवान् भी तत्तत् कर्मफल निर्जरे बिना कुशल को प्राप्त नही कर पाता—मानो, यही सूचित करते हुए जो आधे वर्षप्रमाण समयावधि क्षुधित रहकर भुवन मे विहार करते रहे, वह प्रथम जिनेश्वर श्रीपुरुदेव श्री-वृद्धिकारक हो।

अहो ! बोधिप्राप्तः प्रभुरिति विभाव्यात्मनि हरि-
र्द्रुतं नन्तुं यस्मै स्वयमुपससारानत शिरा· ।
बभाषे यः क्षेमं समवसरणे दिव्यगिरया
श्रियै जायेतासौ प्रथमजिनदेवः पुरुपतिः ॥६॥

अर्थ—अहो ! भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हो गया—ऐसा जानकर देवेन्द्र जिन्हे प्रणाम करने के लिए विनम्र मस्तक होकर तत्काल उपस्थित हुआ, समवसरण सभा मे जिन्होने दिव्यध्वनि मे लोक को कल्याणोपदेश दिया, वह प्रथम जिनेन्द्र श्रीपुरुदेव श्रीवृद्धिकारक हो ।

हुतं कर्मारण्यं, भवकर सपत्नाश्च विजिता·
परिष्वक्ता गाढं स्थिर सुखदनिर्वाणमहिला ।
त्रिकालच्छन्दाना युगपदवलोकोऽप्यधिगतः
श्रियै जायेतासौ प्रथमजिनदेव· पुरुपति. ।।७।।

अर्थ—जिन्होने कर्मवन को दग्ध कर दिया, ससार मे गमनागमन के उत्पादक शत्रुओ पर विजय प्राप्त की, स्थिर सुखदात्री मुक्ति महिला मे गाढालिगन किया एव त्रिकालभावी विवर्तों का युगपत् अवलोकन अधिगत किया, वह प्रथम जिनेन्द्र तीर्थंकर पुरुदेव श्रीवृद्धिकारक हो ।

प्रभो ! स्वामिन् ! नाथ ! त्रिभुवनपते ! मुक्तिकमला
परिष्वंगश्लाघ्य ! स्वसमय ! निजात्मैकरसिक !
सहस्राच्छच्छन्द स्तुतिशिखरिणी यस्य विमला
श्रियै जायेतासौ प्रथमजिनदेवः पुरुपतिः ।।८।।

अर्थ—हे प्रभो ! हे स्वामिन् ! हे नाथ ! हे त्रिभुवनपते ! हे मुक्तिलक्ष्मी समालिगन से श्लाघनीय ! हे स्वसमय ! हे अपने आत्मा मे एकमात्र ध्यानस्थ ! इत्यादि-सहस्रो अच्छे छन्दोवाक्यो से जिनकी स्तुतिशिखरिणी का विमल गान किया जाता है, वह प्रथम जिनेन्द्र तीर्थकर श्रीपुरुदेव श्रीवृद्धिकारक हो ।

विद्यानन्देन मुनिना निर्मितोऽयं पुरुस्तवः ।
पठतां भव्यसत्वाना भूयात् सर्वसुखावहः ॥६॥

अर्थ—आचार्य श्री विद्यानन्द मुनि द्वारा निर्मित यह पुरुदेवस्तोत्र पाठ करने वाले भव्यात्माओ के लिए सर्वविध सौख्यकारक हो ।

श्री महावीराष्टकस्तोत्रम्

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचित
समं भान्ति ध्रौव्यव्ययजनिलसन्तोऽन्तरहिता ।
जगत्साक्षी मार्ग प्रकटनपरो भानुरिव यो
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥१॥

जिनके दर्पण सदृश चैतन्य मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-विवर्तों मे अन्तरहित चित् और अचित् (चेतन एव जड) भाव एक साथ विलसित हो रहे हैं और सूर्य के समान जो लोकसाक्षी तथा (सम्यक्चारित्र)—मार्ग को प्रकट करने मे तत्पर है वह भगवान् महावीर स्वामी मेरे नयनपथगामी (नेत्रो के समक्ष) हो ॥१॥

अताम्रं यच्चक्षुः कमलयुगलं स्पन्दरहितं
जनान् कोपापायं प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि ।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वातिविमला
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥२॥

जिनके नेत्र (क्रोध-कषाय-रागादि परिणति से रहित होने से मानो) अताम्र (श्वेत) कमलपुष्प के युगल प्रतीत होते है तथा निष्पन्द है। जिन्हे देखकर उनका

आभ्यन्तर शुक्लत्व प्रकट होना है और वे (नेत्र) ससार को अक्रोध का शिक्षण करते है। जिनकी मूर्ति अत्यन्त विमल तथा प्रशममयी है। वह भगवान् महावीर स्वामी मेरे नयनपथगामी हो ॥२॥

नमन्नाकेन्द्राली मुकुटमणिभाजाल-जटिल
लसत्पादाम्भोजद्वयमिह यदीय तनुभृताम् ।
भवज्वालाशान्त्यै प्रभवति जल वा स्मृतमपि
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥३॥

जिनके शोभायमान चरणकमल युगल प्रणाम करते हुए देवेन्द्रो की मुकुट-खचित मणियो की प्रभाओ के अतिरेक से जटित है और शरीरधारियो की ससाराग्नि को शान्त करने मे नीर-सदृश (शीतल) है वह भगवान् महावीर स्वामी मेरे नयन-पथगामी हो ॥३॥

यदर्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह
क्षणादासीत् स्वर्गी गुणगणसमृद्धः सुखनिधिः ।
लभन्ते सद्भक्ता शिवसुखसमाज किमु तदा
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥४॥

जिनकी अर्चना करने की भावना रखने वाला, प्रसन्नचित्त दर्दुर (मेढक) भी इस लोक मे क्षणमात्र काल मे मरणोपरान्त गुणो से समृद्ध, सुखनिधि-भोक्ता स्वर्गीय देव हुआ तब यदि अर्हच्चरणारविन्द के नित्यभक्त शिवसुख प्राप्त करे तो क्या आश्चर्य ? वह (सद्भक्तो को मोक्षसुख प्रदान करने वाले) भगवान् महावीर स्वामी मेरे नयनपथगामी हो ।।४।।

कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगततनुर्ज्ञाननिवहो
विचित्रात्माप्येको नृपतिवरसिद्धार्थतनय. ।
अजन्मापि श्रीमान् विगतभवरागोद्भुतगति-
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।५।।

वह भगवान् यद्यपि शरीररहित (आत्मस्वरूप, निरजन-निराकार) है तथापि उनका वर्ण दमकते हुए सुवर्ण के समान है। वह ज्ञान के भण्डार है। अद्भुत आत्म-शरीरधारी और एक है, अद्वितीय है (उनके तुल्य अन्य कोई नही है)। वह नृपति-शिरोमणि सिद्धार्थ के पुत्र है। वह अजन्मा (पुनर्जन्मरहित) होकर भी श्रीमान् है, मुक्ति श्री-समालिगित है। सासारिक रागादि से वर्जित है, अद्भुत गति (मोक्षरूप अलौकिक गति) के धारक है। एव विध गुणगण-गणनीय भगवान् महावीर स्वामी मेरे नेत्रो के समक्ष होने की कृपा करे ।।५।।

यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला
बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनता या स्नपयति।
इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥६॥

जिनकी वाणीरूप गंगा अनेक नयों की कल्लोल राशि से विमल है और अपने सर्वज्ञज्ञान-सलिल से संसार के जनसमूह को स्नान करा रही है। इस समय भी (भगवान् के मोक्ष-गमन के सहस्रों वर्षों के पश्चात् भी) ज्ञानधनी हंसों के समान उस (दिव्यध्वनि-गंगा) से परिचित हैं। वह भगवान् महावीर स्वामी मेरे नयनों के समक्ष होने की कृपा करें ॥६॥

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः
कुमारावस्थायामपि निजबलाद् येन विजितः।
स्फुरन्नित्यानन्दप्रशमपदराज्याय स जिनो
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥७॥

कामविकार महान् सुभट है। काम के वेग का निवारण महाकठिन है। इसने त्रिभुवन को जीत लिया है परन्तु भगवान् महावीर ने अपनी कुमार अवस्था में ही इस लोकपराभवकारी विकार का दमन कर दिया। काम-विजय करते हुए उन्होंने

नित्य आनन्दप्रदाता प्रशमपद (निर्वाण साम्राज्य) को प्राप्त किया। इस प्रकार के अतिवीर भगवान् महावीर मेरे नयनपथगामी हो ॥७॥

(म) महामोहातङ्कप्रशमनपराकस्मिकभिषङ्
निरापेक्षो बन्धुर्विदितमहिमा मङ्गलकर ।
शरण्य साधूना भवभयभृतामुत्तमगुणो,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥८॥

वह प्राणियो के उग्र मोह रोग को शान्त करने मे परमभिषक् (उत्तम वैद्य) समान है। अपेक्षावर्जित बन्धु है (ससार की बन्धुता किसी स्वार्थ की अपेक्षा रखती है) उनकी महिमा विश्रुत है, वह मगलकर्त्ता है, ससार भय से त्रस्त साधु पुरुषो को शरणदाता है तथा उत्तम गुणधारी है। वह भगवान् महावीरस्वामी कृपया मेरे नयनपथगामी हो ॥८॥

महावीराष्टक स्तोत्र भक्त्या 'भागेन्दुना' कृतम् ।
य. पठेच्छृणुयाच्चापि स याति परमा गतिम् ॥९॥

श्री भागचन्द ने भक्तिपूर्वक इस 'महावीराष्टकस्तोत्र' की रचना की है। जो पढेगे और सुनेगे वे परमगति प्राप्त करेगे ॥९॥

चिंतन

'क्वचन भजति धर्मं क्वाप्यधर्मं दुरन्तम् ।
क्वचिदुभयमनेक शुद्धबोधोऽपि गेही ।।
कथमपि गृहवास शुद्धिकारी मलाना-
मिति विमलमनस्कैस्त्यज्यते म त्रिधापि ।।'–

---आचार्य अमितगनि, तत्वभावना ११६

शुद्ध ज्ञान को अर्थात् सम्यग्ज्ञान को रखने वाला गृहस्थ भी किसी जगह तो धर्म को, किसी जगह भयानक अधर्म को, कही अनेक प्रकार धर्म और अधर्म दोनो को सेवन करता है। इसलिये गृहस्थ मे रहना किस तरह पाप के मैलो को शुद्ध करने वाला हो सकता है ? ऐसा समझकर निर्मल मन वाले महात्माओ के द्वारा यह गृहवास मन वचन और काय तीनो मे ही छोड दिया जाना श्रेयस्कर है।

'आयुष्य तव निद्रयाऽर्धमपरं चायुस्त्रिभेदादहो ।
बालत्वे जरया कियद् व्यसनतो यातीति देहिन् ! वृथा ।
निश्चित्यात्मनि मोहपाशमधुना सञ्छिद्य बोधासिना
मुक्तिश्रीवनितावशीकरण सच्चारित्र माराधय ॥'

——सज्जनचित्तवल्लभ, १६

——हे जीव, सौ वर्ष आयु प्रमाण जीवन मे आधा भाग तो निद्रा मे चला गया, शेष आयु पचास वर्ष के तीन भाग हो गये जो बचपन, वृद्धत्व और व्यसनो मे बीत गये। यह सब (गणित के हिसाब तथा तुलादण्ड के समान निश्चित) जानकर ज्ञान के खड्ग से मोह के पाश को काट फेंक और अब मुक्तिश्री को वश मे करने वाले सम्यक् चारित्र का पालन कर।

'देहे निर्ममता गुरौ विनयता नित्यं श्रुताभ्यासता,
चारित्रोज्वलता महोपशमता ससारनिर्वेगता ।
अन्तर्बाह्य परिग्रहत्यजनता धर्मज्ञता साधुता,
साधो ! साधुजनस्य लक्षणमिदं संसार विक्षेपणम् ॥—'

—हे माधो ! अपने देह पर भी ममता न रखना, गुरु मे विनय रखना, नित्य शास्त्र-स्वाध्याय करना, चारित्र की उज्ज्वलता, सर्वथा क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायो का शमन करना, ससार के प्रति मोह-ममत्ववर्जित होना, आन्तरिक तथा बाहरी परिग्रहो का त्याग करना, धर्मज्ञ होना, साधुता का पालन करना साधुजनो के वास्तविक लक्षण है, ये ससार से मुक्त करने वाले है ।

'पुरागर्भादिन्द्रो मुकुलितकर किंकर इव,
स्वयं स्रष्टा सृष्टे पतिरथ निधीना निजसुत ।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट् जगती-
महो ! केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघ्य हतविधे ॥'

—आत्मानुशासन, ११९

—अहो ! जिन्हे पूर्व समय मे इन्द्र गर्भकाल से ही भृत्यवत् अंजलिबद्ध होकर सेवा करता था, स्वयं जो कर्म भूमि के प्रजापति (स्रष्टा) थे, जिन के पुत्र भरत चक्रवर्ती निधिपति थे—वह पुरुदेव षण्मासावधि क्षुधित होकर पृथ्वी पर विहार करते रहे। इस दुष्ट कर्मगति का उल्लंघन कर पाना किसी के लिए भी दुष्कर है।

'समस्त साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्
तपस्यन् निर्मान क्षुधित इव दीन परगृहान् ।
किलाटद् भिक्षार्थी स्वयमलभमानोऽपि सुचिर,
न सोढव्य कि वा परमिह परै कार्यवशात. ।।

—आत्मानुशासन ११८

—समस्त साम्राज्य को तृणवत् त्यागकर जो तीर्थंकर वृषभदेव तपश्चर्या मे दीर्घकाल पर्यन्त लीन रहे, जिन्होने मान कषाय का परित्याग किया वे ही भिक्षार्थी होकर छ मास तक विहार करते रहे। चिरकाल तक उन्हे भिक्षा भी प्राप्त न हो सकी। जब यह घटना उनके साथ घटित हुई जो तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध किये हुए थे, तब सामान्य मनुष्यो को कर्म-परिणाम से क्या क्या सहन नही करना पडता ?

विश्व-शान्ति पाठ

क्षेमं सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च वृष्टि वितरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
दुर्भिक्ष चौर्य-मारी क्षणमपि जगता मा स्म भूज्जीवलोके,
जैनेन्द्र धर्मचक्र प्रसरतु सतत सर्व-सौख्यप्रदायि ।।

सम्पूर्ण प्रजाओ का क्षेम हो । भूमिपति बलवान् धार्मिक और प्रभावशाली हो । मेघ समय-समय पर वर्षा करे । व्याधियो का नाश हो । क्षण-काल के लिये भी अकाल, चोरी, और महामारी विश्व के प्राणियो को पीडित न करे । विश्व को सुख प्रदान करने वाला, इन्द्रियादि विजेता परमात्मा (जिनेन्द्र) का धर्मचक्र (जो क्षमा-मार्दव-आर्जव, शौच-सत्य-सयम-तप-त्याग-आकिचन्य और अपरिग्रहरूपी विश्वधर्म के दश अग रूप है) निरन्तर प्रसारित हो ।

